समन्वय का मार्ग स्याद्वाद

• डॉ. उदयचंद्र जैन

भारतीय दर्शन की सुदूरगामी परम्परा है। ऋषि-महर्षि योगी-महात्माओं संतों, विचारकों, दार्शनिकों एवं चिन्तनशील मनीषियों ने अध्यात्म-जगत् में कुछ न कुछ विचार, मत या वाद तर्क अवश्य प्रदान किए। उनके फलस्वरूप चिन्तन के क्षेत्र में नए-नए विचार आए। नए-नए चिन्तन उभरे तथा नई-नई विचार-धाराओं को अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होने में विशेष बल मिला। अध्यात्मवादी और भौतिकवादी विचारों को पनपने में भी सहयोग मिला।

भारतीय चिन्तन की विचारधारा आत्म-तत्व को बल देने लगी, क्योंकि प्रत्येक दार्शनिक आत्मा को सर्वोपरि मानकर आत्मा, बंधन, मुक्ति, जीव एवं जगत् तथा ईश्वर को अपने चिन्तन का विषय बनाने लगा।

भारत की प्राचीन दार्शनिक परम्परा में जैन-दर्शन भी आत्मवादी दृष्टि पर आधारित समन्वय के गीत गाने लगा, विश्व शान्ति की परिकल्पना की गई। इस विचार-धारा को ज्ञान-विज्ञान की तराजू पर तोला जाने लगा। जैनदर्शन की विचारधारा अर्हत्-मत के रूप में विख्यात हुई। ऋषभ से महावीर पर्यन्त जो कुछ भी चिन्तन प्रस्तुत किया गया, वह सब एक पक्ष पर आधारित न होकर समन्वय के मूल सिद्धान्त को लेकर अपने चिन्तन को प्रस्तुत करने लगा। तीर्थंकरों एवं गणधरों के बाद जो कुछ भी कहा गया वह सब एक पक्ष की मुख्यता और दूसरे पक्ष की गौणता को सदैव स्थापित करता रहा। सामान्य और विशेष की दृष्टि नय पर केन्द्रित हो गई। जो भी वस्तु तत्व की सिद्धि है वह एक पक्ष सत् या असत् पर ही टिकी नहीं रह गई, अपितु जिस समय सत् रूप में वस्तु का विवेचन किया गया, उस समय सत् की प्रधानता है, असत् का अभाव नहीं, अपितु असत् का सद्भाव होते हुए भी उसकी उपस्थिति गौण रूप अवश्य बनी रहती है, जिस समय कलम कहा जाता है, उस समय कलम की प्रमुखता, पुस्तक आदि की गौणता बनी रहती है, एक का कथन करने पर दूसरे की सर्वथा अभाव नहीं हो जाता है। यदि एक विश्वशान्ति या अस्त्र-शस्त्र का निषेध करना है उस समय अन्य वस्तु का निषेध नहीं हो जाता है। सत् द्रव्य है, जो परिवर्तनशील है किंतु उसका सर्वथा विनाश नहीं हो जाता है। अपितु वह सत् रूप वस्तु जिस समय जिस रूप में परिवर्तन को प्राप्त होती है, उस समय वह वस्तु उस रूप को प्राप्त होती है, कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व को छोड़कर अन्य पदार्थ रूप नहीं हो जाती है, यदि पदार्थ जड़ है तो वह चेतन भी नहीं हो जाएगा, यदि चेतन है तो वह जड़ नहीं हो सकता है। जड़ और चेतन पदार्थ तो हैं पर वे अलग-अलग अपने गुणों पर टिके हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वरूप है। गीता की भी यही दृष्टि है -

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात् असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का सर्वथा नाश नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद जैन दर्शन की एक प्रमुख दार्शनिक विचारधारा है, जिसमें विभिन्न दृष्टिकोणों से पदार्थ की सत्ता का, वस्तु के अस्तित्व का निरूपण किया जाता है। स्याद्वाद की शैली वस्तु के धर्म एवं गुण पर आधारित है, जिसका विशाल दृष्टिकोण है जिसमें समन्वयात्मक विवक्षा है।

स्याद्वाद की परम्परा - समन्वय कभी नहीं होता है। यह ऐतिहासिक और पौराणिक महापुरुषों तीर्थंकरों आदि की विचार (चिन्तन) धारा से फलीभूत हुआ है। महावीर की अन्तिम देशना के बाद ज्ञान की अक्षुण्ण धारा बनाए रखने का प्रयास जब से हुआ तभी से स्याद्वाद सिद्धान्त को विशेष बल मिला। महावीर के पूर्व पार्श्व और उससे पूर्व भी यह प्रचलित रहा होगा, क्योंकि सर्वज्ञ, वीतराग वाणी में कहीं, भी किसी भी प्रकार का विरोध नहीं पाया जाता है। जो कुछ अर्थ रूप में प्रतिपादित था, उसे गौतम गणधर ने सूत्र बद्ध किया और उसी को आचार्यों ने लिपिबद्ध कर श्रुतधारा की अविच्छिन्न धारा यहाँ तक पहुँचाई।

अरहंत-भासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं। स.१९

तीर्थंकर का उपदेश है -

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ   परस्स वि या, एतियगं जिणसासणं॥ स.मु. २४२

स्याद्वाद की ऐतिहासिकता

इतिहास तो इसका निश्चित नहीं, किन्तु इतना अवश्य है कि यह वेद, उपनिषद आदि के दार्शनिक चिन्तन के साथ सदैव सामने आता रहा है। क्योंकि भेद व्यवहार की दृष्टि प्रारम्भ से ही रही होगी। इसलिए प्रमाण, नए एवं निक्षेप द्वारा युक्त०अयुक्त की समीक्षा की गई। निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक का आधार लिखा गया। महावीर से पूर्व से ही यह परम्परा चली आ रही है। नास्ति, अस्ति की सापेक्ष दृष्टि रही है। राहुल सांकृत्यायन ने शून्यवाद को सापेक्ष रूप में ही प्रस्तुत किया है। नागार्जुन ने वस्तु को न भाव रूप माना, न अभाव रूप, न उभय रूप, न अनुभय रूप माना। नागार्जुन ने वस्तु को अवाच्य माना। विज्ञानवादी बौद्धों ने विज्ञान रूप माना। सांख्य ने सत् पर बल दिया।

आचार्य सिद्धसेन ने लोक व्यवहार को बनाए रखने का स्पष्ट रूप में कथन किया -

जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वहइ।
तस्स भुवणेक्क-गुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स॥ स.६६०

जावंतो वयणपधा -

अर्थात् जितने भी वचन पथ हैं, उतने ही नय हैं, क्योंकि सभी वचन वक्ता के अभिप्राय को व्यक्त करते हैं, ऐसे वचनों में यदि एक ही धर्म की मुख्यता बनी रही तो वे समन्वय मूलक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि हठग्राही भाव कभी एक सूत्रता को नहीं ला सकते हैं। दुराग्रह भी यदि व्याप्तिजन्यं, पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कथन करने वाला है तो वह दुराग्रह वस्तु के एक विशेष अर्थ को अवश्य कथन कर सकेगा। इसलिए सापेक्ष सत्यग्राही दृष्टि समीचीत मानी गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद का व्युत्पत्ति एवं अर्थ -

विणय-णिसेहणसीलो, णिपादणादो य जो हु खलु सिद्धो।

सो सियसद्दो भणिओ, जो सावेक्खं पसाहेदि॥ सम.७१५

अर्थात् जो सदा नियम का निषेध करता है, निपात रूप से सिद्ध है, वह स्यात् शब्द है, जो सापेक्ष को सिद्ध करता है। स्यात् शब्द का प्रयोग निपात रूप में प्रयोग होने के कारण स्यात्+वाद का अर्थ शायद या सम्भव न होकर निश्चित अपेक्षा का द्योतक है।

अवरोप्पर-सावेक्खं अह पमाण-विसमं वा। (जैनेन्द्र नि. ४९८)

प्रमाण व नय के विषय परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं अथवा एक नय का विषय दूसरे नय की अपेक्षा करता है यही सापेक्ष दृष्टि है अन्य नहीं। क्योंकि नय वस्तु के एक धर्म की विवक्षा/अपेक्षा से लोक व्यवहार साधना है अर्थात् किसी एक धर्म ही उसका विषय होता है, इसलिए उस समय उसी धर्म की विवक्षा/अपेक्षा रहती है। जिस समय लाल टोपी वाले को लाओ ऐसा व्यवहार किया जाता है, उस समय लाल टोपी की विवक्षा रहेगी।

सापेक्ष से नियम से समस्त व्यवहारों की सिद्धि होती है -सयल-ववहार सिद्धी सुणयादो होदिणियमेण।" स्याद्वाद में स्यात् अस्ति घटः, स्याद् नास्ति घटः का प्रतिपादन है। इसलिए स्यादवाद निश्चित अपेक्षा का कथन करने वाला सिद्धान्त है?

१. सापेक्ष स्याद्वाद है, निरपेक्ष नहीं।
२. विवक्षा की प्रयोग विधि-विधि एवं निषेध रूप है।
३. अपेक्षा-अनेक धर्मों से युक्त है।
४. स्याद्वाद की विवक्षा-मुख्य और गौण रूप है।
५. स्याद्वाद का कथेंचित ऐसा भी है यह कथन सापेक्ष का प्रतिपादन करने वाला है।

स्यादवाद् की सप्तभंगी व्यवस्था - नय या प्रमाण दोनों का विषय परस्पर में सापेक्ष विषय को ही आधार बनाता है। भंग/वचन व्यवहार सप्त रूप में होने से सप्त भंगी सापेक्षता के प्रतिपादन में सहायक है।

सत्तेव हुंति भंगा, पणाम-णय-दुणय भेदजुत्ता वि।

सिय सावेक्खं पमाणं, पाएण णय दुणय णिरवेक्खा॥ (सम. ७१६)

प्रमाण, नय और दुर्नय के भेद से युक्त सात भंग है। स्यात् आपेक्ष नय प्रमाण है। इसके सात भेद सप्तभंगी हैं।

अत्थि त्ति णत्थि दो वि य अव्वत्तव्वं सिएण संजुतं।

अव्वत्ता ने तह, पमाणभंगी सु-णायव्वा॥ (सम ७१७)

१. स्यात् अस्ति, २. स्यात् नास्ति, ३. स्यात् अस्ति नास्ति, ४. स्यात् भवक्तव्य, ५. स्यात् अस्ति अवक्तव्य, ६. स्यात् नास्ति अवक्तव्य, ७. स्वात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह व्यवस्था (अस्ति और नास्ति) स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्व. काल, और स्वभाव तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और पर भाव रूप हैं।

एकणिरुद्धे इयरो पडिवक्खो अवरे य सब्भावो।
सव्वेसिं स सहावे, कायव्वा होइ तह भंगा॥ सम.७२१)

अर्थात् वस्तु के एकधर्म को ग्रहण करने पर उसके प्रतिपक्षी दूसरे धर्म का भी ग्रहण अपने आप हो जाता है, क्योंकि दोनों ही धर्म वस्तु के स्वभाव है। अतः सभी वस्तु धर्मों में सप्तभंगी योजना करने योग्य है।

स्याद्वाद की सर्वोदय दृष्टि - स्याद्वाद द्वारा कथंचित्, किंचित्, किसी की अपेक्षा, किसी एक दृष्टि, किसी एक धर्म या किसी एक अर्थ का बोध कराया जाता है। स्याद्वाद वस्तु कथन करने की एक पद्धति है जिसमें सह-अस्तित्व का समावेश है। विश्व-शान्ति का परिचायक है। विश्व एक है, राष्ट्र अनेक हैं, इसमें किसी को विरोध नहीं।

जब एक दूसरे के प्रति विद्वेष होता है, तब असत् प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं, एक-दूसरे को समाप्त करने का भाव उत्पन्न होता है। एक व्यक्ति या प्राणी जब अपने प्राणों की रक्षा चाहता है, तब क्या दूसरा नहीं चाहेगा? हाँ, अवश्य। फिर यह क्यों?

हमारा व्यवहार, हमारी क्रियाएं और हमारे देखने एवं सोचने-समझने में बदलाव आ जाता है, तब टकराव उत्पन्न हो जाता है। हमारे भीतरी और बाहरी चिन्तन में अन्तर पड़ जाता है। इसलिए यथार्थ को प्रस्तुत करते समय हठ को पकड़कर चलने लगता है, ऐसी स्थिति में न्याय, अन्याय का रूप धारण कर लेता है। सत्य, सत्य नहीं रह जाता, विश्व मैत्री खटाई में पड़ जाती है। इसलिए सूक्ष्मता को समझने के लिए स्याद्वाद की दृष्टि आवश्यक है।

स्यात्कार अनुजीवी गुण नहीं? -

स्यान्निशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सद्सतेव
विपश्चितां नाम निवीततत्वमुधोद्गतोद्गार परम्परेयम्॥ (स्या. म.२५/१९५)

प्रत्येक वस्तु कथंचित् अनित्य, कथंचित् नित्य, कथंचित् सामान्य, कथंचित् विशेष, कथंचित् वाच्य, कथंचित् अवाच्य, कथंचित् सत् और कथंचित् असत् है। यह स्यात्कार का प्रयोग धर्मों के साथ होता है, कहीं भी अनुजीवी गुणों के साथ नहीं, क्योंकि स्यात्वाद प्रक्रिया आपेक्षित धर्मों में प्रवर्तित होती है, अनुजीवी गुणों में नहीं।

अनेकान्त का व्यवस्थापक स्याद्वाद - एक वस्तु में वस्तुत्व को उत्पन्न करने वाली परस्पर दो विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है, जो तत् है, वही अतत है, जो एक है, वही अनेक है जो सत् है, वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है। धव. १५/२५/१

जिसके सामान्य-विशेष, पर्याय या गुण अनेक अन्त या धर्म है। युक्ति या आगम से अविरुद्ध एक ही स्थान पर प्रतिपक्षी अनेक धर्मों का निरूपण सम्यगनेकांत कहलाने लगता है तथा जब वस्तु तत् या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतत् के वचन विलास के रूप में रह जाती है, तब वह मिथ्या अनेकान्त का द्योतक बन जाता है। अनेकांत संशयवाद, या छल को नहीं उत्पन्न करता है अनेकान्त में एकान्त का समन्वय है।

णाणाजीवा णाणाकम्मं, णाणाविहं हवे लद्वी।
तम्हा वयणविवादं, सग-पर समएहिं वज्जिज्जा॥ सम. ७३५)

इस संसार में नाना जीव, नाना कर्म और नाना लब्धियां हैं। इसलिए स्वधर्मी या परधर्मी को वचन विवाद से दूर ही रहना चाहिए।

स्याद्वाद एक ऐसी वचन व्यवहार पद्धति है, जिसमें वक्ता का अभिप्राय निर्णयात्मक होता है, यथार्थ, सत्यार्थ, परमार्थ पर आधारित होता है, इस स्थिति में अन्य धर्मों का निषेध नहीं होता है। अनेकान्त व्यवहार और परमार्थ दोनों का आश्रयस्थान है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं उन अनन्त धर्मों को अनेकान्त की दृष्टि से स्याद्वाद पद्धति द्वारा समझाया जा सकता है। इस सिद्धान्त में मानवमूल्यों की विशाल दृष्टि है, तात्विक परिवेश सामाजिक विकास में सहयोगी है, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में इसकी दृष्टि उन्नत एवं सर्वोपरि है। अतः यह सिद्धान्त मानव की उदात्त-वृत्तियों को जागृत कर समन्वय के कल्याणकारी पथ को प्रदर्शित करता है।

पिऊ कुन्ज
अरविंदनगर, उदयपुर (राज.)
३१३००१

कोई भी साधक व्रत, उपवास, तपश्चर्या आदि जो कुछ भी करता हैं मन को साधने के लिए ही करता है। इन्द्रिय निग्रट करने का प्रधान उद्देश्य मन का निग्रट करना होता हैं। मन इन्द्रियों का स्वामी होता हैं, अतः उसे वश में कर लिया जाय तो इन्द्रियाँ अनायास ही वश में हो जाती हैं। मन पर विजय पाना ही आत्म विजय हैं।

• ***युवाचार्य श्री मधुकर मुनि***

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org